पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ

# जैनधर्म में भक्तियोग

भक्ति एक प्रकार का योग है, किन्तु 'भक्तियोग' शब्द का प्रयोग जैनशास्त्रों में देखने में नहीं आया. जबकि भक्ति शब्द का प्रयोग यत्र-तत्र बहुलता से हुआ है. कर्मयोग या निष्काम कर्मयोग की तरह भक्तियोग भी एक सिद्धान्त है और उसका औचित्य तर्कसिद्ध है.

## योग एवं भक्ति शब्द का अर्थ

योग[1] शब्द के अनेक अर्थ हैं. यहां योग का अर्थ प्रयोग अथवा अप्राप्त की प्राप्ति है. उपाय या रक्षा का साधन भी यहाँ योग शब्द का अर्थ लिया जा सकता है. तब 'भक्तियोग' शब्द का अर्थ होगा आत्मशुद्धि के लिये भक्ति का प्रयोग, अथवा भक्ति के द्वारा अप्राप्त को प्राप्त करना, परमात्मा का सान्निध्य पाने के लिये भक्ति सर्वोत्कृष्ट उपाय है एवं वह बुराइयों से बचने का साधन भी है. इसलिए यहाँ योग का अर्थ उपाय एवं संनहन अर्थात् कवच भी कर सकते हैं.

भक्ति का अर्थ है भाव की विशुद्धि से युक्त अनुराग. जिस अनुराग में भाव की निर्मलता नहीं होती वह अनुराग (प्रेम) भक्ति नहीं कहला सकता. सांसारिक अनुराग में वासना होती है इसलिए उसे भक्ति का रूप नहीं दिया जा सकता. परमात्मा[2] सन्त या शास्त्र आदि में होने वाले विशुद्ध प्रेम को ही भक्ति कहा जा सकता हैं. भक्ति का भाव उत्पन्न होता है. जिसकी भक्ति की जाती है उसमें पहले पूज्यबुद्धि उत्पन्न होती है. उसका कारण है अपने इष्ट देवता आदि के वे गुण जिन्हें भक्त प्राप्त करना चाहता है.

## भक्ति का लक्ष्य

जैनभक्ति का लक्ष्य वैयक्तिक अर्थात् ऐहिक स्वार्थ नहीं है, अपितु आत्मशुद्धि है. आत्मा जब परमात्मा बनना चाहता है तब उसका प्रारम्भिक प्रयत्न भक्ति के रूप में ही होता है. भक्ति आत्मा को परमात्मा बनाने के लिये एक सरल एवं पकड़ सकने योग्य मार्ग है. खासकर ग्रहस्थ के लिये यह मार्ग विषेष रूप से उपादेय है. भक्ति शुभोपयोग का कारण है और शुभोपयोग से पुण्यबंध होता है. यदि भक्ति में फलासक्ति न हो और वह पूर्णतया निष्काम हो तो अन्त में मनुष्य को शुद्धोपयोग की ओर आकृष्ट करने का कारण बन सकती है जो मुक्ति का साक्षात् कारण है.

## जैनधर्म गुण का उपासक है

जैनधर्म व्यक्ति का उपासक नहीं अपितु गुण का उपासक है. व्यक्ति की उपासना का समर्थन तो करता है पर उसका कारण भी व्यक्ति के गुण ही हैं. व्यक्ति स्वयं में कुछ नहीं है, उसकी सारी महत्ता का कारण उसके गुण हैं और गुणों की उपासना का प्रयोजन भी गुणों की प्राप्ति है. गुणों की प्राप्ति के लिये ही भक्त उपासक गुणवान् उपास्य को अपना

---

१. योगः सन्नहनोपायध्यानसंगतियुक्तिषु—अमरकोष, तृतीय कांड नानार्थवर्ग, २२ श्लोक.
योगोऽपूर्वार्थसंप्राप्तौ संगतिध्यानयुक्तिषु, वपुःस्थैर्ये प्रयोगे च विष्कंभादिषुभेषजे, विश्रब्धघातकेद्रव्योपायसन्नहतेष्वपि. कार्मणेऽपि च—मेदनी.

२. अर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनेषु भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः—सर्वार्थसिद्धिः .

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदर्श मानता है और जिस विधि से स्वयं उपास्य ने गुण प्राप्त किये उसी विधि से उस मार्ग को अपनाकर भक्त भी उपास्य के गुणों को प्राप्त करना चाहता है. यही भक्ति का वास्तविक ध्येय है. इस सम्बन्ध में निम्नांकित प्राचीन उल्लेख बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है.

**मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ,**
**ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तदगुणलब्धये ।**

अर्थात् मैं मोक्ष मार्ग के नेता, कर्मरूपी पर्वतों के भेत्ता और विश्व तत्त्वों के ज्ञाता को उसके गुणों की प्राप्ति के लिये वंदना करता हूँ. यहाँ किसी खास व्यक्ति को प्रणाम नहीं है अपितु उन गुणों को धारण करने वाले व्यक्ति को प्रणाम है चाहे वह कोई भी क्यों न हो. एक श्वेताम्बराचार्य भी यही कहते हैं—

**भवबीजांकुरजलदाः, रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य ,**
**ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ।**

भव-बीजांकुर के लिये मेघ के समान, रागादिक संपूर्ण दोष जिसके नष्ट हो गये हैं उसे मेरा प्रणाम है फिर चाहे वह ब्रह्मा हो या विष्णु अथवा महादेव हो या जिन.

सुप्रसिद्ध तार्किक आचार्य अकलंकदेव भी गुणोपासना के सम्बन्ध में यही कहते हैं—

**यो विश्वं वेद वेद्यं जननजलनिधेर्भंगिनः पारदृश्वा ,**
**पौर्वापर्याऽविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलंकं यदीयम् ।**
**तं वन्दे साधुवंद्यं निखिलगुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विषन्तं ,**
**बुद्धं वा वर्द्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा ।**

जिसने जानने योग्य सब कुछ जान लिया है, जो जन्म रूपी समुद्र की तरंगों के पार पहुँच गया है, जिसके वचन दोष-रहित, अनुपम और पूर्वापर विरोध रहित हैं, जिसने अपने सारे दोषों का विध्वंस कर दिया है और इसीलिए जो संपूर्ण गुणों का भंडार बन गया है तथा इसी हेतु से जो संतों द्वारा वंदनीय है, मैं उसकी वंदना करता हूँ चाहे वह कोई भी हो—बुद्ध हो, वर्द्धमान हो, ब्रह्मा हो, विष्णु हो अथवा महादेव हो.

ये सब उदाहरण हमें यह बतलाते हैं कि भक्ति के स्थान गुण हैं, व्यक्ति नहीं. इसलिए जैनदर्शन भक्ति का आधार गुणों को मानता है. यदि परमात्मा की भक्ति करने से कोई परमात्मा नहीं बन सकता तो फिर उसकी भक्ति का प्रयोजन ही क्या है ? इस सम्बन्ध में भक्ति के प्रधान आचार्य मानतुंग ने ठीक ही कहा है :—

**नात्यद्भुतं भुवनभूषण ! भूतनाथ ।**
**भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ,**
**तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किंवा ।**
**भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ।**

हे जगत् के भूषण ! हे जगत् के जीवों के नाथ ! आपके यथार्थ गुणों के द्वारा आपका स्तवन करते हुए भक्त यदि आपके समान हो जाय तो हमें कोई अधिक आश्चर्य नहीं है. ऐसा तो होना ही चाहिए. क्योंकि स्वामी का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने आश्रित भक्त को अपने समान बना ले. अथवा उस मालिक से लाभ ही क्या है जो अपने आश्रित को वैभव से अपने समान नहीं बना लेता.

किन्तु यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब परमात्मा रागद्वेष से विहीन है, तब उसकी भक्ति से लाभ ही क्या है ? राग न होने के कारण वह अपने किसी भी भक्त पर अनुग्रह नहीं करेगा और द्वेष न होने से किसी दुष्ट का निग्रह करने के लिये भी कैसे प्रेरित होगा ? क्योंकि अनुग्रह और निग्रह में प्रवृत्ति तो रागद्वेष की प्रेरणा से ही होती है जो शिष्टों पर अनुग्रह और दुष्टों का निग्रह करता है उसमें राग या द्वेष का अस्तित्व जरूर होता है किन्तु जैन इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार के किसी ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते. इस प्रश्न का उत्तर जैन स्तोत्रों में जो दिया गया है वह बड़ा ही मनोग्राही तर्कसंगत एवं आकर्षक है. प्रख्यात तार्किक आचार्य समन्तभद्र इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अपने 'स्वयंभूस्तोत्र' में वासुपूज्य तीर्थंकर का स्तवन करते हुए कहते हैं—

**न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ,**
**तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चेतो दुरितांजनेभ्यः ।**

हे नाथ ! आप तो वीतराग हैं. आपको अपनी पूजा से कोई प्रयोजन नहीं है. आप न अपनी पूजा करने वालों से खुश होते हैं और न निन्दा करने वालों से नाखुश, क्योंकि आपने तो वैर का पूरी तरह वमन कर दिया है. तो भी यह निश्चित है कि आपके पवित्र गुणों का स्मरण हमारे चित को पापरूप कलंकों से हटा कर पवित्र बना देता है. इसका आशय है कि परमात्मा स्वयं यद्यपि कुछ भी नहीं करता फिर भी उसके निमित्त से आत्मा में जो शुभोपयोग उत्पन्न हो जाता है उसी से उसके पाप का क्षय और पुण्य की उत्पत्ति हो जाती है.

महाकवि धनंजय इसी का समर्थन करते हुए अपने विषापहार नामक स्तोत्र में क्या ही मनोग्राही वाणी में कहते हैं—

**उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि त्वयि स्वभावाद् विमुखश्च दुःखम्,**
**सदावदातद्युतिरेकरूपस्तयोस्त्वमादर्श इवावभासि ।**

हे भगवान् ! तुम तो निर्मल दर्पण की तरह सदा स्वच्छ हो. स्वच्छता तुम्हारा स्वभाव है. जो तुम्हें अपने निष्कपटभाव से देखता है वह सुख पाता है. और जो तुमसे विमुख होकर बुरे भावों से तुम्हें देखता है वह दुःख पाता है. ठीक ही है, दर्पण में कोई अपना मुंह सीधा करके देखता है तो उसे उसका मुंह सीधा दिखता है. और जो अपना मुंह टेढ़ा करके देखता है उसे टेढ़ा दिखता है. किन्तु दर्पण किसी का मुंह न सीधा करता है और न टेढ़ा. इसी प्रकार रागद्वेष रहित परमात्मा स्वयं न किसी को सुख देते हैं और न दुःख. वह तो प्रकृतिस्थ है. इस प्रकार के कार्यों में स्वयं उनका कोई भी प्रयत्न संभव नहीं है. सुख अथवा दुःख तो मन की अपनी ही वृत्तियों का परिणाम है. सजीव अथवा निर्जीव पदार्थ एवं अनुरक्त अथवा विरक्त व्यक्ति का दूसरे सजीव अथवा निर्जीव पदार्थों पर जो स्वयं प्रभाव पड़ता है वह मनुष्य के लिये नई चीज नहीं है. यह तो प्रत्येक मनुष्य के अपने अनुभव की वस्तु है. मनुष्य अपनी मनः प्रकृति के अनुसार दूसरों से प्रभावित होता है. किसी स्त्री का मनोहर चित्र किसी भी रागी पुरुष के आकर्षण का कारण बन जाता है. किन्तु यह कार्य वह चित्र नहीं करता, वह तो उसमें निमित्त मात्र है. चित्र में न किसी के प्रति राग होता है और न किसी के प्रति द्वेष. फिर भी यह आकर्षण चित्र का कार्य माना जाता है. यही बात परमात्मा की भक्ति के विषय में भी है.

भक्ति के सम्बन्ध में एकलव्य का उदाहरण संसार में अप्रतिम है. वह मिट्टी के द्रोणाचार्य से स्वयं पढ़कर संसार का अद्वितीय धनुर्धारी बना था. वह एक निष्ठ होकर मिट्टी के द्रोणाचार्य से पढ़ता रहा. उसकी मनःकल्पना में वह मिट्टी की मूर्ति साक्षात् द्रोणाचार्य थी. कहने की आवश्यकता नहीं है कि एकलव्य को संसार का अप्रतिम धनुर्धारी बनने में मिट्टी के द्रोणाचार्य का स्वयं कोई प्रयत्न नहीं था क्यों कि मिट्टी में किसी प्रकार की आकांक्षा सम्भव ही नहीं है, पर यह भी सही है कि मिट्टी का द्रोणाचार्य ही एकलव्य को ऐसा धनुर्धारी बना सका जिसकी धनुःसंचालन-कुशलता को देखकर द्रोणाचार्य का साक्षात् शिष्य अर्जुन भी दंग रह गया.

संस्कृत-ग्रंथों में एक प्रयोग आता है—'कारीषोऽग्निरध्यापयति:' अर्थात् छाणों की आग पढ़ा रही है. एक गरीब छात्र के पास ओढ़ने के लिये कुछ भी नहीं होने से जाड़े की रातों में आग के सहारे से पढ़ता है और कहता है कि यह आग ही मुझे पढ़ा रही है. आग तो अध्यापक नहीं है फिर वह कैसे पढ़ा रही है ? उसमें इसलिये पढ़ाने का उपचार है कि अगर आग न हो तो वह छात्र पढ़ नहीं सकता. पढ़ने और अग्नि में निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है. इसी तरह भक्त के आत्मोद्धार और भगवान् की भक्ति में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है. यद्यपि जैनदर्शन मानता है कि भक्ति साक्षात् मुक्ति का कारण नहीं है, क्योंकि उससे 'दासोऽहम्' की भावना नष्ट नहीं होती, तो भी भक्ति का महत्त्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कम नहीं होता. वह मनुष्य के सामने परमात्मा का आदर्श उपस्थित करती है. यद्यपि उस आदर्श की प्राप्ति अभेद रत्नत्रय से होती है, भक्ति से कभी नहीं, किन्तु साधना की प्रथम भूमिका में भक्ति का बहुत बड़ा उपयोग है. इसका कारण यह है कि मन जब उपास्य की ओर आकृष्ट होता है तब वह उसके मार्ग का अनुसरण करना भी अपना कर्तव्य समझता है. वह असत् प्रवृत्तियों से हटता है और सत् प्रवृत्तियों को अपनाता है. अदया से दया की ओर, अक्षमा से क्षमा की ओर तथा संक्षेप में अधर्म से धर्म की ओर बढ़ता है. यदि भक्ति में पाखण्ड न हो, किसी प्रकार का प्रदर्शन न हो और वह मानव-मन को अपने यथार्थ रूप से छूने लगे तो भक्ति उसको मुक्ति की ओर ले जा सकती है. यही कारण है कि अनेक जैन कवियों ने भक्ति को इतना अधिक महत्त्व दे दिया है कि उसे पढ़ कर आश्चर्य हुए विना नहीं रहता.

भक्ति तर्क को पसन्द नहीं करती, वह तो श्रद्धाप्रसूत है. पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि भक्ति में विवेक नहीं होता. ऐसा हो तो वह भक्ति ही नहीं है. ज्ञानी और अज्ञानी की भक्ति में जो महान् अंतर जैनाचार्यों ने बतलाया है उसका कारण विवेक का सद्भाव और असद्भाव ही तो है. विवेक सहित भक्ति ही मनुष्य को अमरत्व की ओर ले जाती है. जो साधक श्रमणत्व की ऊंची भूमिका में नहीं जा सकता उसके लिए भक्ति संबल है, मुक्तिमार्ग में पाथेय है और साधक के लिये एक सहारा है. इसलिये महाकवि वादिराज ने अपने एकीभाव स्तोत्र में कहा है—

**शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा,**
**भक्तिर्नो चेदनवधिसुखावंचिका कुंचिकेयम्,**
**शक्योद्घाटं भवति हि कथं मुक्तिकामस्य पुंसो,**
**मुक्तिद्वारं परिदृढमहामोहमुद्राकपाटम् ।**

अर्थात् शुद्ध ज्ञान और पवित्र चारित्र होने पर भी यदि असीम सुख देने वाली तुम्हारी भक्ति रूपी कुंचिका न हो तो जिसके महामोह रूपी ताला लगा हुआ है ऐसा मुक्तिद्वार, मुक्ति की इच्छा रखने वाले के लिये कैसे खुल सकता है ? यहां कवि ने भक्ति की तुलना में शुद्ध ज्ञान और पवित्र चारित्र को भी उतना महत्त्व नहीं दिया. यह भक्ति की पराकाष्ठा है.

### भक्ति का फल

जैनाचार्यों ने भक्ति को एक निष्काम कर्म माना है. यदि उसे लक्ष्य कर मनुष्य में फलासक्ति उत्पन्न हो जाय तो भक्ति बिल्कुल व्यर्थ है. जैनशास्त्रों में निदान (फलाकांक्षा) को धार्मिक जीवन में एक प्रकार का शल्य (कांटा) बतलाया गया है. भक्त के सामने सदा मुक्ति का आदर्श उपस्थित रहता है. वह उससे कभी भटकता नहीं. यदि भटक जाय तो उसे सच्चा भक्त नहीं कह सकते. भक्ति का सच्चा फल वह यही चाहता है कि जब तक मुक्ति की प्राप्ति न हो तब तक प्रत्येक मानव जन्म में उसे भगवद्भक्ति मिलती रहे. इसी आशय को स्पष्ट करते हुए 'द्विसंधान काव्य' के कर्त्ता महाकवि धनंजय कहते हैं—

**इति स्तुतिं देव विधाय दैन्याद्, वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि ।**
**छाया तरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्, कश्छायया याचितयाऽऽत्मलाभः ।**
**अथास्ति दित्सा यदिवोपरोधः, त्वय्येव सक्तां दिश भक्ति बुद्धिं ।**
**करिष्यते देव तथा कृपां मे, को वात्मपोष्ये सुमुखो न सूरीः ।**

हे देव ! इस प्रकार आपकी स्तुति कर मैं आप से उसका कोई वर नहीं मांगता, क्योंकि किसी से भी कुछ मांगना तो एक प्रकार की दीनता है. सच तो यह है कि आप उपेक्षक (उदासीन) हैं. आप में न द्वेष है और न राग. राग विना कोई किसी की आकांक्षा पूरी करने के लिए कैसे प्रवृत्त हो सकता है ? तीसरी बात यह है कि छायावाले वृक्ष के नीचे बैठकर फिर उस वृक्ष से छाया की याचना करना तो बिल्कुल व्यर्थ है, क्योंकि वृक्ष के नीचे बैठने वाले को तो वह स्वतः ही प्राप्त हो जाती है.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह सब कुछ होने पर भी यदि आप स्तुति का कोई फल देना ही चाहें, इतना ही नहीं इसके लिए आपका अनुरोध या आग्रह भी हो तो हे भगवान्! आप मुझे यही वर दीजिए जिससे आपकी भक्ति में ही मेरी बुद्धि लगी रहे. यह कृपा मुझ पर जरूर कीजिये. ऐसा कौन है जो अपने आश्रित के हित की ओर ध्यान न दे !

कल्याणमंदिर स्तोत्र के कर्त्ता महाविद्वान् कुमुदचन्द्र भी इस सबंध में यही बात करते हैं:—

**यद्यस्ति नाथ भवदंघ्रिसरोरुहाणाम्, भक्तेः फलं किमपि सततं संचितायाः ,**
**तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्यभूयाः स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेपि ।**

हे शरण्य ! आपके चरण-कमलों की सतत संचित भक्ति का यदि कोई फल हो तो वह यही होना चाहिए कि इस जन्म और अगले जन्म में आप ही मेरे स्वामी हों. क्योंकि आप के अतिरिक्त मेरा कोई भी शरण नहीं हो सकता.

किन्तु जैसा कि पहले कहा है, मनुष्य का चरम लक्ष्य मुक्ति है. इसलिए कोई भी भक्त जब तक मुक्ति नहीं मिले तब तक ही इस फलाकांक्षा का औचित्य समझता है. इसलिए भगवान् की पूजा के अंत में जैन मंदिरों में जो शान्तिपाठ बोला जाता है, उसमें इस अभिप्राय को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया है:—

**तव पादौ मम हृदये, मम हृदयं तव पदद्वये लीनम् ,**
**तिष्ठतु जिनेन्द्र! तावत् यावन्निर्वाणसंप्राप्तिः ।**

हे भगवन् ! जब तक निर्वाण की प्राप्ति न हो तब तक तुम्हारे चरण मेरे हृदय में लीन रहें और मेरा हृदय तुम्हारे चरणों में लीन रहे. इन उद्धरणों से यह अच्छी तरह समझा जा सकता है कि जैन भक्ति का उद्देश्य परमात्मत्त्व की ओर बढ़ना है. किसी भी प्रकार का लौकिक स्वार्थ उसका लक्ष्य नहीं है. जिसके जीवन में भक्ति की महत्ता अंकित हो जाती है उसकी दुनिया के क्षणभंगुर पदार्थों में आस्था नहीं होती और न उसके मन में किसी प्रकार के वैयक्तिक स्वार्थ की ही आकांक्षा होती है. वास्तविक भक्त वह है जिसकी दुनिया के क्षणभंगुर सुखों में आस्था नहीं होती. जिसको इस प्रकार को आस्था, आसक्ति अथवा आकांक्षा होती है वह कभी परमात्मत्त्व की ओर नहीं बढ़ सकता, भक्तहृदय अहिंसक होता है इसलिए उसका कोई शत्रु भी नहीं होता है वह अपनी भक्ति के बीच में इस प्रकार की आकांक्षायें भी नहीं लाता जो द्वेषमूलक एवं हृदय को विकृत करनेवाली हों. जैनदृष्टि से वे स्तोत्र अत्यन्त नीच स्तर के ही समझे जाने चाहिए जो मनुष्य को हिंसा एवं विकार की ओर प्रेरित करने वाले हों.

हाँ, जैन भक्ति एवं पूजा के प्रकरणों में भक्ति के फलस्वरूप ऐसी मांगें जरूर उपलब्ध होती हैं जो वैयक्तिक नहीं अपितु सार्वजनिक हैं, फिर चाहे वे लौकिक ही क्यों न हों. भगवान् की उपासना के बाद जो जैन उपासना-गृहों में शांतिपाठ बोला जाता है उसमें भक्त कहता है:—

**क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः ,**
**काले काले च सम्यग् विलसतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम् ।**
**दुर्भिक्षं चौरमारी क्षणमपि जगतां मास्मभूज्जीवलोके ,**
**जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्य—प्रदायि ।**

हे भगवन् ! सारी प्रजा का कल्याण हो. शासक बलवान् और धर्मात्मा हो. समय-समय पर (आवश्यकतानुसार) पानी बरसे. रोग नष्ट हो जावें. कहीं न चोरी हो और न महामारी फैले और सारे सुखों के देनेवाला भगवान् जिनेन्द्र का धर्मचक्र शक्तिशाली हो.

इसी प्रकार का एक उल्लेख और भी सुनिये :—

**संपूजकानां प्रतिपालकानाम्, यतीन्द्रसामान्यतपोधनानाम् ,**
**देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः, करोतु शांति भगवान् जिनेन्द्रः ।**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो भगवान् के भक्त हैं, जो दीन-हीनों के सहायक हैं, जो यतियों में श्रेष्ठ हैं, जो तपोधन हैं उन सबको तथा देश, राष्ट्र, नगर और राजा को भगवान् जिनेन्द्र शान्ति प्रदान करें.

ये सब उल्लेख स्पष्ट यह बतलाते हैं कि जैनों के वाङ्मय का लक्ष्य आत्मशोधन के साथ-साथ लोकोपकार की भावना भी है. उसका दृष्टिकोण संकुचित नहीं अपितु उदार, विशाल एवं व्यापक है. इसमें वसुधैवकुटुम्बकम् की 'उदात्त' तथा प्रांजल भावना ओतप्रोत है. इससे मानव को जो प्रेरणा मिलती है उससे उसकी पशुता निकल कर मानवता निखर जाती है. जैन-भक्ति की एक विशेषता यह भी है कि इसमें किसी प्रकार के आडम्बर को स्थान नहीं मिलता. आडम्बर भक्ति की विडम्बना है. उससे कभी आत्मा का यथार्थ दर्शन नहीं होता. उपास्य का जो वास्तविक स्वरूप है उसीकी उपासना पर जैनभक्ति में बल दिया गया है. भक्त भी उसी स्वरूप की प्राप्ति के लिये कृतसंकल्प होता है. जैन मंदिरों में वीतरागता के साधनों के अतिरिक्त जो बाह्य चीजें दीख पड़ती हैं, वे चाहे कितनी ही आकर्षक क्यों न हों, भक्ति में उनका कोई महत्त्व नहीं. जहाँ भक्ति के उच्च स्तर का वर्णन मिलता है वहाँ सोने-चाँदी आदि अत्यन्त बाह्य पदार्थों की कौन कहे, शरीराश्रित गुणों को भी कोई महत्त्व नहीं दिया गया. वहाँ तो आत्माश्रित गुणों को ही भक्ति कर आधार माना गया है क्योंकि उन्हीं की अभिव्यक्ति जीवन में अपेक्षित है. शरीर और इससे सम्बन्ध रखने वाले सभी बाह्य पदार्थ जड़ हैं. जड़ के किसी भी गुण-धर्म की अभिव्यक्ति आत्मा को इष्ट नहीं है.

## मूर्तिपूजा और भक्ति

श्वेताम्बर जैनों के स्थानकवासी और तेरापंथी एवं दिगम्बर जैनों का तारणपंथी सम्प्रदाय—यद्यपि मूर्तिपूजा को महत्त्व नहीं देते, फिर भी वे भक्ति का समर्थन करते हैं. यद्यपि मूर्तिपूजा और भक्ति का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हैं तो ये दोनों चीजें एक नहीं हैं. किन्हीं दो पदार्थों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बनाना व्यक्तिगत प्रश्न है. भक्ति के लिये भी कोई मूर्ति को अवलम्बन मानता है और कोई नहीं मानता है. जो संप्रदाय मूर्ति या प्रतिमा को अवलम्बन नहीं मानते, वे भी भगवान् की भक्ति करते हैं. भक्ति तो मनुष्य की मानसिक वृत्ति है. वह मूर्तिरूप आलंबन के विना निरालंबन भी हो सकती है. वास्तव में परमात्मा या भगवान् ही आलंबन हैं. उपास्य में तो कोइ भेद है नहीं, भले ही उनकी मूर्ति बनाई जाय या न बनाई जाय. विना मूर्ति के भी परमात्मा या महात्माओं के गुणों में अनुराग उत्पन्न कर उसमें पूजनीयता की आस्था स्थापित की जा सकती है. भक्ति का रहस्य भी यही है. इन तीनों संप्रदायों ने जो मूर्ति का विरोध किया है इसके ऐतिहासिक कारण हैं. इससे किसी में किसी की स्थापना करने की मानव-बुद्धि का विरोध नहीं होता. मूर्तिपूजा का विरोध करना उन तीनों सम्प्रदायों का क्रान्तिकारी कदम था किन्तु वह भक्ति का विरोध कभी नहीं था. जैनधर्म में जो भक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है उसे जैनों के सभी सम्प्रदाय एक मत से स्वीकार करते हैं.

## भक्ति साहित्य

जैन वाङ्मय में भक्तिसाहित्य अथवा स्तोत्रग्रन्थों का उल्लेखनीय स्थान है. तीर्थंकरों पंचपरमेष्ठी एवं अन्य देवी-देवताओं सम्बन्धी हजारों स्तोत्रग्रन्थ उपलब्ध होते हैं. भक्तामरस्तोत्र, कल्याणमन्दिरस्तोत्र आदि स्तुतिपरक रचनाएँ बड़ी ही महत्त्वपूर्ण हैं. जैन उपासक प्रतिदिन इन रचनाओं को भक्ति के भाव में विभोर होकर अपनी आत्मशुद्धि के लिये पढ़ते हैं. तुलनात्मक दृष्टि से इन स्तुतिग्रन्थों की अनेक विशेषताएं हैं. इनका प्रत्येक पद्य एक मंत्र माना जाता है और इन पर अनेक कथाए लिखी गई हैं. जैनों के वैयक्तिक जीवन पर इन स्तोत्रों का बहुत प्रभाव है. यह साहित्य इतना विशाल है कि इस पर विभिन्न दृष्टियों से अनुसंधान किया जा सकता है. जैनों के चोटी के आचार्यों ने अन्यान्य विषयों की रचना के साथ-साथ भक्तिसाहित्य को भी अपनी रचना का विषय बनाया है. दार्शनिक साहित्यकारों ने भक्ति को तर्क की कसौटी पर कस कर अपने ग्रन्थों में इसकी उपादेयता सिद्ध की है.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## भक्ति का समन्वय

संसार के सभी धर्मों में भक्ति का उल्लेखनीय स्थान है. जो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं और जो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते, उनका भक्ति तत्त्व अनेक दृष्टियों से समान नहीं है. गीता का अध्ययन करने से पता चलता है कि ईश्वर की सत्ता स्वीकार करके भी गीताकार निष्काम भक्ति पर बहुत जोर देते हैं. ऐसा ज्ञात होता है कि गीता-कार पर कर्तृत्ववाद की कोई छाप ही नहीं है. गीताकार की भक्ति और जैनभक्ति में अनेक दृष्टियों से साम्य है किन्तु उपास्य का स्वरूप दोनों में एक-सा नहीं है. विभिन्न धर्मों में जो भक्तितत्त्व की व्याख्या मिलती है उसका अनेकान्त-वाद के आधार पर समन्वय किया जा सकता है. इस प्रकार के समन्वय की आज अत्यन्त आवश्यकता है. अतः साध्य की सिद्धि के लिये उसका निष्कपट भाव से प्रयोग करना चाहिए, यही भक्तियोग की मर्यादा है.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org